बेटी पराई नहीं होती, पापा

रोहिणी अग्रवाल

बेटी पराई नहीं होती, पापा

पर्स से निकाल कर दो सीलबंद गड्डियाँ उसने काउंटर पर रख दीं। पूरे अदब और एहतियात के साथ। करारे कुरकुरे नोट। दस हजार। पाँच हजार। शो रूम के मैनेजर ने लापरवाही से उन्हें सेफ में फेंक दिया। बिना गिने। वह रोमाँच से भर उठी। सपना जो

बरस भर साथ रहा, साए की तरह, ख्वाहिश की तरह, कसक की तरह, अचानक यूँ साकार हो जाएगा - किसी एक खास लम्हे में, पलक झपकते ही - कहाँ सोचा था। नहीं, सोचा जरूर था, लेकिन सपने की तरह, ख्वाहिश से भर कर। खुशी का पल कभी-कभी बहुत बोझिल हो जाता है। एक अजीब-सी टीस और सुकून से पुरा। वह पकड़े रहना चाहती है इस पल को देर तक। कितने कौशल से सी दिया है इस पल ने दो टुकड़ों में विभाजित उसके अपंग वजूद को। एक मुकम्मल इनसान। वह देख सकती है अपने आप को। बिना आईने के। बिना आरसी के।

'बिल किसके नाम बनाऊँ?' कागजों पर झुका मैनेजर उससे पूछ रहा था। उकताए हुए मशीनी अंदाज में। उसके भीतर की हलचलों से पूरी तरह नावाकिफ।

'ऑफ कोर्स एम.एम. चौधरी के नाम।' दुविधा की कोई बात ही नहीं थी।

'पापा!' वह कहेगी कुछ नहीं। बस, कागज थमा देगी उन्हें। अचरज से बुत बन कर उन कागजों को देखते रहेंगे वे देर तक।

'पगली!' फिर गाल थपथपा देंगे उसके।

और तब...

'मैडम, सब कागज-पत्तर तैयार हैं। कैसे ले जाएँगी?'

'...'

वह शब्द सुन भर रही है, पर देख कहीं और रही है।

घर! घर का अपनापन! संबंध! संबंधों की मिठास! इसके परे - सब फीका! सब फिजूल!

'रिक्शा करा दूँ क्या?' वह उसकी चुप्पी को व्यावहारिक विवशता का पर्याय मान रहा है।

‘अरे किशोरी! चल उठा टी.वी. का बक्सा। मैडम के साथ चला जा। विकास नगर न मैडम? जरा मोटी अक्कल का है। रास्ता बतातीं रहना। पर है खरा आदमी। मोटी अक्कल है, तभी तो रिक्शा चलाता है। नहीं तो हमारी-आपकी तरह... हो-हो।’

वह चौंक गई। हँसी से। मौन जब ढेर-सी दिली बातें कर रहा हो, तब हँसी की कर्कश आवाज कोमलता से सिरजे सारे तिलिस्म को चूर-चूर कर देती है।

‘नहीं नहीं, रिक्शा की कोई जरूरत नहीं। गाड़ी है मेरे पास। डिकी में रखवा दो।’

‘अरे ओ इंदर! गाड़ी में रखवा दे... नहीं नहीं, तू जा भाई... इन्स्टाल करके आना। कोई फाल्ट न रहने पाए...’ वह जोर-जोर से बड़बड़ाते हुए निर्देश-आदेश देता रहा। जरूरी। गैर जरूरी।

बहुत भला लगता रहा उसे सब कुछ। बेमतलब का शोर भी। जान-बूझ कर की गई देर भी। नहीं, डर तो किसी का है नहीं।

‘डर? माने?’

‘माने...’ वह हकला गई।

‘डर... माने कोई गलत काम किया है तुमने। इतना गलत कि पकड़े जाने पर दंडित किए जाने का विश्वास है।’

‘नहीं नहीं, डरूँगी क्यों? यह भी कोई गलत काम है? अपनी मर्जी से किसी के लिए...’

‘किसी के लिए? माँ-बाप किसी में?’

‘चलो, अपनों के लिए अपनी मर्जी से कुछ ले भी नहीं सकते? कोई गिफ्ट। कोई कार्ड।’

‘क्यों नहीं। पर छिप कर क्यों?’

‘कहाँ? छिप कर कहाँ? सबके सामने ही तो खरीद रही हूँ।’

ओफ्फ! फिर एक जोड़ी अपंग वजूद में तब्दील हो गई वह। अपने से ही तर्क। वितर्क। अपनी ही शक्तियों को जाया करना। माना आज ही सिद्धार्थ तीन दिन के लिए बाहर गए हैं। पर इसका मतलब यह तो नहीं न कि छिप-छिप कर... या डर-डर कर... छिः! कहने दो उसे। कुछ भी कहता-बोलता रहेगा। द डिजेक्टेड फ्रस्ट्रेटेड हैंडीकैप्ड फैलो। उसके दूसरे अपंग हिस्से ने उपेक्षा से कंधे बिचका दिए।

गाड़ी स्टार्ट करके वह मेन रोड पर आ गई। बेहद उत्तेजित। रोमाँचित।

'मैडम, जरा धीरे। झटके से गिर गया तो...।'

'हाँ।' वह सावधान हो गई। सपना साकार हो कर गत्ते के बक्से में बंद था। उसकी पहुँच के भीतर। पाँचों इंद्रियों समेत भोगने लायक। फिर भी झटके से टूटने का खतरा। सपना जो ठहरा। वह मुस्करा दी।

पिछले बरस। यही तो दिन थे। बेहद गर्म। उमस भरे। कॉलेज से सीधे माँ के यहाँ चली आई।

'आज घर जाने को मन नहीं हुआ। सिद्धार्थ नहीं हैं न। दिल्ली गए हैं। हाँ, लौट आएँगे। रात तक।'

'...'

'बड़ी बोरियत होती है अकेले।'

'क्यों, तेरी सास का क्या हुआ? वह भी गई हैं साथ?' पापा ने टी.वी. पर नजर गड़ाए-गड़ाए ही पूछा था।

'नहीं, सास तो यहीं हैं। घर में ही, पर बस... कभी-कभी एक जन के जाने पर ही सब कुछ सूना-सूना सा नहीं लगता?'

'अच्छा!' माँ के स्वर में शरारत से ज्यादा तृप्ति भरी खुशी छलक उठी।

तभी मंद्र स्वर में राग अलापता टी.वी. अचानक सप्तम सुर में चीखने लगा - आउट। पापा चौकन्ने हो गए।

'क्या हुआ?' माँ उत्सुक हो गईं। 'कौन आउट हुआ?'

'पता नहीं। शायद सचिन। एक्शन री-प्ले से पता चलेगा।' और दोनों टी.वी. में कैद हो गए।

उसे स्क्रीन पर कुछ दिखाई नहीं दिया। काँपती-डोलती धुँधली-सी परछाइयाँ। एक-दूसरे को निगलते काले-सफेद रंग। और खखारती-फटती आवाज।

वह हँस पड़ी - 'आप लोग टी.वी. देख रहे हैं या देखने का नाटक कर रहे हैं?'

'क्या मतलब?'

'मतलब?' वह और भी हँस पड़ी - 'भई, मैं तो बुढ़ापे में वक्त काटने के लिए ऐसे-ऐसे नाटक नहीं करूँगी।'

वह ढूँढ़ कर ट्रांजिस्टर उठा लाई - 'इसी से ज्यादा साफ सुन रहा है।' और ट्रांजिस्टर छाती पर रख कर लेट गई। बचपन का पुराना साथी। एक बोलता और दूसरा शब्दों के सहारे तस्वीर बनाने लगता - रंग-शेड-कल्पना नितांत अपनी। बिल्कुल निजी अंतरंग तस्वीर।

माँ झींकती रह जाती - 'जब देखो, नॉवेल, ट्रांजिस्टर, फिल्में। बिगाड़ दोगे लड़की को।'

पापा एक कान से सुनते, दूसरे से निकाल देते - 'मेरी बेटी है। बिगाड़ूँ या सुधारूँ। तुम्हें क्या।'

वह निश्चिंत हो कर अपनी काल्पनिक तस्वीरों में डूब जाती - और क्या। किसी को क्या। माँ की भुनभुनाहट उसे बैकग्राउंड म्यूजिक की तरह लगती। पापा हैं तो किसी की मजाल उसकी तरफ टेढ़ी नजर से देख भी ले।

'पापा की लाड़ली।' सब कहते उसे।

‘लाड़ली न लाड़ली। सिरचढ़ी। देखना फिसलेगी एक दिन।’ भाई लोग चिढ़ाते। ईर्ष्यावश। बेचारे। कहने को चार-चार। पर मजाल है जो पापा ने उन्हें कभी इंपोर्टेंस दी हो। जन्मदिन तक तो कभी मनाया नहीं उनका। बस, सुबह-सवेरे हवन करा लिया। सो भी अपने आप। आर्यसमाजी तरीके से। बिना किसी उत्सव-प्रदर्शन के। और उसका जन्मदिन... ग्रैंड पार्टी... सहेलियों की भीड़... गुब्बारे... झालरें... केक-मिठाइयाँ... तोहफे-बधाइयाँ... मानो दीवाली आ गई हो, एक बार फिर। सिर्फ उनके घर। माँ या भाइयों के विरोध का कोई सवाल ही नहीं उठता।

‘पापा, द आयरन मैन।’ वह कहा करती थी और गर्व से तन जाती।

‘आयरन पापा की स्टील बेटी।’ भाई उसका बायकाट कर देते। वह परवाह नहीं करती। उपन्यास पढ़ने का चस्का जो डाल दिया था पापा ने। शरत-टालस्टाय के बाद अब आगे अपना रास्ता खुद तलाशना था उसे। फुर्सत ही कहाँ थी अपनी दुनिया और पापा के अलावा किसी और की बात सुनने की।

‘अभी भी आँखें बंद करके ट्रांजिस्टर सुनने की आदत नहीं गई तेरी?’ माँ पूछ रही हैं। वह अपने में लौट आई। शोर और परछाइयों के बीच 'लाइव क्रिकेट' तलाश रहे हैं पापा। डेस्पीरेटली। ऐसे तो आँखें खराब हो जाएँगी। स्क्रीन पर ज्यादा देर नजर फोकस नहीं कर पाई वह। लेकिन पापा... एक ही वीकनेस है उनकी, क्रिकेट।

‘जनून!’ माँ को अच्छा नहीं लगता था पापा का तन-मन से यूँ क्रिकेटमय हो जाना। पर क्या करतीं। ना-ना करते वे खुद भी क्रिकेटमयी होती गईं, धीरे-धीरे। पूरे परिवार की तरह।

‘आप नया टी.वी. क्यों नही ले लेते?’ पापा की आँखों में निराशा की हल्की-सी छाया तैरते देख वह हठात पूछ बैठी - ‘कोई महँगा भी तो नहीं। यही कोई तेरह-चौदह हजार।’

‘हूँ।’ पापा चुप। माँ चुप। बस, एक हल्की-सी हूँ।

‘और वैसे भी आजकल ब्लैक एंड व्हाइट का जमाना तो रहा ही नहीं। तिस पर पोर्टेबल। डिस्गस्टिंग।’

‘हमारी तरह। ओल्ड, आउटडेटेड एंड डिस्गस्टिंग।’ पापा ने स्विच ऑफ कर दिया -‘चलो, खाना खाया जाए।’

वह हँस दी। फिर से। ‘रियली। ओल्ड, आउटडेटेड एंड डिस्गस्टिंग। नॉट यू। दिस टी.वी.।’

लेकिन सिद्धार्थ को हँसी नहीं आई। वे चुप ही रहे। वही बोलती रही - ‘बताओ, इसमें इतना सेंटीमेंटल होने की जरूरत थी कोई? टी.वी. टी.वी. है, पेरेंट्स पेरेंट्स। तुलना की कोई बात उठती है भला?’

सिद्धार्थ चुप। निस्पंद।

‘अच्छा बताओ, उन्हें नया टी.वी. नहीं ले लेना चाहिए?’

‘हूँ।’

‘ये लो। तुम भी 'हूँ'।’ वह झल्ला गई।

‘मैं कोई कहानी सुना रही हूँ?’ उसने झकझोर दिया सिद्धार्थ को। ‘नया टी.वी. ले लेना चाहिए न उन्हें।’

‘चाहिए तो बहुत कुछ। पर जरूरी नहीं सब कुछ हो ही जाए।’

‘क्यों?’ वह अधीर। बचकानी हद तक।

‘क्यों क्या? मे बी फाइनेंशल क्राइसिस। बूढ़े हैं। पेंशनयाफ्ता। हजारों खर्चे, आमदनी कम।’

‘ओ।’ वह झेंप गई। सच, कभी सोचा ही नहीं। अपने से बाहर निकल कर कभी किसी और के लिए सोचने का मौका ही नहीं दिया पापा ने उसे।

'फाइनेंशल क्राइसिस!' हर महीने सैलरी चैक कैश कराते हुए वह सोचती और टीस से भर जाती। लेकिन माँ ने कभी पुट्ठों पर हाथ नहीं धरने दिया - 'तू बता, तुझे जरूरत है? कितना पैसा चाहिए?'

'माँ!' वह आहत हो जाती। 'मैं हमेशा अपने लिए ही सोचती रहूँगी?'

माँ ने प्यार से उसके सिर पर हाथ फिरा दिया - 'बच्चों को सिर्फ अपने बारे में ही सोचना चाहिए। सबकी फिक्र करने के लिए माँ-बाप भतेरे हैं।'

'मैं अब बच्चा नहीं हूँ। बड़ी हो गई हूँ।'

'अच्छा! कितनी बड़ी?' पापा हँस कर बात उड़ा देते।

वर्ल्ड कप क्रिकेट खत्म हो गया। नए सीरीज शुरू हुए - ट्राइएंगुलर। टैस्ट मैच। लाइव टेलीकास्ट। ...चुनाव। चुनाव-विश्लेषण। चुनावी नतीजे। ...छींटाकशी के दौर... सब लाइव... सीधे प्रसारित होते रहे। अनसेंसर्ड। और वह छीजती रही भीतर ही भीतर। अपने उनतीस इंची कलर टी.वी. की स्क्रीन पर उसे कई-कई ओल्ड, आउटडेटेड एंड डिस्गस्टिंग पोर्टेबल ब्लैक एंड व्हाइट टी.वी. दिखाई देते रहे। नाचते-कूदते। डराते-धमकाते।

'क्यों न हम खरीद कर दे दें उन्हें?' उसने प्रस्ताव रखा, एक दिन।

'क्या?'

'कलर टी.वी.।'

'क्यों, है तो सही हमारे पास।' बात का सिरा नहीं पकड़ पाए सिद्धार्थ।

'नहीं, अपने लिए नहीं। वो तो...' उसे लगा बात सोचने में जितनी सहज थी, बोलने में उतनी नहीं रही, 'वो... ममी-पापा के लिए।'

'...'

चुप! सिद्धार्थ बिल्कुल चुप।

‘तुम्हीं कह रहे थे न शायद एफोर्ड नहीं कर पा रहे हों।’

‘...’

‘बतौर गिफ्ट। हम दे दें तो...?’

‘हँ।’ सिद्धार्थ ने करवट बदल ली।

गूँगा हुंकारा। बस, एक इसी 'हूँ'से तो बहुत डर लगता है उसे। कोहरे की परत की तरह सब कुछ ढक कर अंधा बना देती है अच्छे भले आदमी को।

पापा गेट पर ही मिल गए। कार का दरवाजा खुला छोड़ वह उनके कंधों से लिपट गई।

‘पापा, एक सरप्राइज। फॉर यू।’

‘सरप्राइजेज आर ऑलवेज शॉकिंग। बूढ़ा हूँ बेटे, जरा ख्यान करना।’

उसने बुरा-सा मुँह बना लिया। ‘बेटा भी कहा और गाली भी दे दी।’ ज्यादा देर एक्टिंग करना उसके बस की बात नहीं। लिहाजा फिर से चहक उठी - ‘डोंट वरी। आई हैव कम विद ए प्लेंजेंट सरप्राइज।’ और मैकेनिक को निर्देश दे कर वह बक्सा अंदर लिवा लाई।

‘ता...ना...ना...ता...ना...ना...ता...ना...ना’ मैकेनिक न होता साथ तो ड्रामाटाइज करते हुए वह एक-एक चीज निकालती। बचपन की तरह। मैकेनिक था, इसलिए सब शांत रहे। बुजुर्गियत का नकाब ओढ़ कर। सब्र के घूँट भर कर। मानो जो कुछ भी हो रहा है, बेहद सामान्य-सा। बस, शुरू में जरा-सा कुनमुनाए थे पापा - ‘काम चल तो रहा था। क्या जरूरत थी इसकी?’

‘थी। जभी तो लाई हूँ।’ वह अति व्यस्त।

एक लंबा पॉज। अप्रीतिकर। माँ ने उस चुप्पी को शब्दों में ट्रांसलेट कर दिया -‘बेटा लाता तो अच्छा भी लगता।’

नहीं, वह बिल्कुल नहीं सुलगी। इठला गई बल्कि, बेटे की तरह। बेटी होने के बावजूद।

‘मैं हूँ न बेटा।’

घर लौटते हुए वह बेहद खुश थी। खुश से भी ज्यादा रिलैक्स्ड। ज्यों कोई मन्नत पूरी होने के बाद मंदिर जा कर प्रसाद चढ़ा आई हो। अरे बाप रे! क्या-क्या ऊलजलूल बातें सोच कर अपने को नहीं चीथती रही थी इन दिनों। अगर मना कर दिया - ‘हमें नहीं चाहिए। ले जाओ वापिस। तो?’

‘अरे वाह! मना कैसे करेंगे?’ खुद ही सवाल। खुद ही जवाब।

‘लेना अगर मुश्किल होता है तो लौटाना और भी कष्टकर। इतना आसान नहीं होता दूसरों की भावनाओं और कन्सर्न को कुचलना।’

‘मान लो, मना कर ही दिया, तो? कहते हैं न, बी प्रिपेयर्ड फॉर द वर्स्ट।’ उसका एक हिस्सा जहाँ अड़ गया, सो अड़ गया।

‘तब?’ शहीदाना किस्म के ढेरों रेडीमेड विकल्पों को वह एक-एक कर उँगली पर गिनने लगी। रक्त संबंध का वास्ता देगी वह... बदलते हालातों और सुधरते कानूनों का।

‘पता है, कानूनन अब तो बूढ़े माँ-बाप को लुक आफ्टर करने की जितनी जिम्मेदारी बेटों की है, उतनी ही बेटियों की भी। माँ-बाप का कर्जा भी बेटियाँ चुकता करेंगी।’

‘अच्छा-अच्छा।’ माँ दोनों कानों को हथेलियों से मूँद लेंगी - ‘फिजूल की बातें न कहो, न सुनो।’

‘नहीं, सच।’ वह कन्विंस करना चाहेगी उन्हें।

माँ टिपिकल जवाब पकड़ा देंगी - ‘इससे तो कटोरा ले कर गली-गली भीख ही माँग लेंगे लोग। लड़की चुकाएगी कर्जा!’

पापा यकीनन मुँह छिपा कर हँसेंगे। भैंस के आगे बीन बजाई, भैंस खड़ी पगुराए। हाँ, पापा से इन रैडीकल चेंजेज के बारे में खूब बहस होती है उसकी। उम्र के बावजूद पापा बूढ़े नहीं हैं। बुढ़ापा माने ग्रो करने की हर कोशिश का विरोध। बुढ़ापा माने अतीत का

दुराग्रही मोह। बुढ़ापा माने अपनी जड़ता को सेलीब्रेट करने का रोग। असल में इनसान बूढ़ा मन से होता है। और सोच से।

'और मेरे पापा कभी बूढ़े नहीं हो सकते।' वह अहंकार से दीप्त हो उठती - 'ही इज सो इनर्जेटिक एंड रिसोर्सफुल।'

'फिर भी अगर पापा ही न मानें, तो?'

'इंपॉसिबल।'

वाकई, बहुत वक्त लगा था उसे 'वर्स्ट' से जूझने के लिए कोई माकूल जवाब तलाशने में।

न माने तो... हाँ, आर्थिक आत्मनिर्भरता अर्जित करने में उनकी सकारात्मक भूमिका दिखाऊँगी उन्हें। जिसे बनाने में अपना खून-पसीना और जीवन लगाया है, उस पर उनका जरा-सा भी हक नहीं? उनके लिए क्या उसका इतना-सा भी फर्ज नहीं? वह तर्क देगी... फिर आँसुओं का वास्ता... असफल ही रही तो... औरत का आखिरी हथियार - पैना, धारदार। इसके बाद असफलता की गुंजाइश ही कहाँ।

लेकिन पापा को तो बेहद चिढ़ है आँसुओं से - 'डोंट क्राई। मैं सब कुछ सह सकता हूँ। मगर आँसू नहीं। आँसू तुम्हारी कमजोरी की नहीं, हार की निशानी हैं। लड़ने से पहले ही जंग हार जाने का ऐलान।'

माँ को आँसुओं की यह परिभाषा बेहद नागवार गुजरती।

'आँसू न हों औरत की आँख में तो जालिम बन जाएगी मर्दों की तरह। इन्हीं से तो नमी बचाए रखती है वह। बीज बोने, अँकुराने और लहलहाने के वास्ते जरूरी नमी। वरना बंजर न हो जाए दुनिया।'

पापा उफन कर कुछ बोलने से पहले अपना सारा उफान भीतर समेट लेते - 'मेरी बेटी औरत नहीं, इनसान बनेगी। नमी और खुश्की के अनुपात में संतुलन बनाए रखनेवाला सही इनसान।'

सच, रोना तो वह भूल ही गई थी। सहेलियाँ घरेलू फिल्मों की अतिनाटकीय त्रासदी पर रूमाल भिगो-भिगो कर रोतीं तो वह बेतहाशा हँसती - 'सब नकली। क्रिएटेड।' अब महसूस करती है वह कि आदमी रोए नहीं तो भीतर ही भीतर गड्ढा दर गड्ढा गहरा होता चलता है - उन गड्ढों में अपने तंज और परेशानियाँ छुपाने। रो दे तो खारे पानी के साथ घुल कर शरीर से बाहर आ जाएँगी न वे। वजूद खत्म। याद खत्म। जिंदगी का ढर्रा वही सम पर। या कि विषम पर? भीतर ही भीतर दफन ताबूत कभी नहीं मरते। जी उठते हैं - समूचे अतीत और भविष्य के साथ। सबक और सुझाव देते हुए। ताकत और विजन देते हुए।

न, इससे तो बेहतर है वह चुप ही रहेगी।

लेकिन इस वक्त चुप्पी उसे बेहद अखर रही है। उठ कर रिकॉर्ड प्लेयर ऑन कर दिया। शुभा मुदगल की कैसेट। संगीत उसके भीतर झर-झर कर आनंद के सोते बहाता रहा। जल-केलि में डूबी वह अपलक अपने को निहारती रही। अबाध महसूस करती रही अपने को। सिद्धार्थ की अनुपस्थिति एक वरदान की तरह जी ली उसने। अकेले। और साबुत।

आज दस चालीस की क्लास है। घड़ी देखी। पौने नौ। कोई हड़बड़ी नहीं। आराम से तैयार हो सकती है। सिद्धार्थ के बिना वक्त सरकता नहीं। ओ गॉड, यानी उसका इतना वक्त खा लेता था सिद्धार्थ। वह चकित थी और कुछ विषण्ण भी। दिनचर्या में खलल पड़े तो कुछ देर को सुहाता नहीं कुछ भी।

ट्रिंग... ट्रिंग... फोन पर कोई था।

'माँ!' वह व्यग्र हो उठी।

'सब ठीक तो है न?'

'हाँ।' माँ का स्वर बुझा-बुझा-सा था।

'क्या हुआ? इतनी टेंस?'

‘नहीं। ...वो एक बात करनी थी तुझसे। कॉलेज से लौटते हुए इधर आ जाना।’

‘समथिंग सीरियस?’ वह बेचैन हो गई। कहीं... फिगर्स क्रॉस कर लीं उसने।

‘पापा बहुत अपसैट हैं।’

‘...’

‘टी.वी. को ले कर। कहते हैं, टी.वी. दिलवा कर तुमने उनके नाकाबिलियत के अहसास को और भी तीखा कर दिया है।’

‘...’ वह कसमसा गई। क्या कहे। कुछ सूझा नहीं।

‘बहुत अपमानित महसूस कर रहे हैं। कहते हैं, हमेशा के लिए सिर नीचा कर दिया मेरा।’ माँ का भीगा-भीगा स्वर टूट गया।

वह द्रवित भी है और नाराज भी। ‘माँ, ऐसा कुछ नहीं है। तुम खामख्वाह...’

‘तू नहीं समझती। बहुत गहरा सदमा लगा है उन्हें।’

माँ के आँसू। उफ! इन आँसुओं की बुनियाद पर पता नहीं कितनी पनीली कहानियाँ गढ़ डालेंगी अब माँ। वह झल्लाना चाह रही है।

‘सुन, जरा पता तो करना, क्या टी.वी. लौटाया नहीं जा सकता। बात करके देखने में क्या हर्ज...’

‘माँ’ वह गरज उठी। ‘बस। इनफ। मैं आ रही हूँ।’

पापा उसे देखते ही कतरा कर निकल गए मानो परछाई पड़ने मात्र से ही अपवित्र हो जाएँगे। वह भक् से जल उठी। इतनी ऐंठ!

‘लौटाना ही होता तो लाती क्यों? अपनी निष्ठाओं को सर्टीफाई तो नहीं करवाना था न मुझे।’ वह कटखनी हो आई।

‘तू समझने की कोशिश क्यों नही करती। कैसे रख लें तेरी चीज? क्या कहेगा सिद्धार्थ? उसके माँ-बाप?’

‘उन्हें पता भी नहीं कुछ। न ही कभी बताऊँगी। हमारे पर्सनल अफेयर में उनका क्या दखल?’ बस, इतनी सी कील!

‘पर तू... पापा के अहं को ठेस लगी है। जिसे आज तक दिया ही दिया हो, उसी के आगे हाथ फैला लें?

‘माँ!’

काश! कुतर्कों की काट के लिए कोई वाजिब हथियार ईजाद कर लिया गया होता। और अब सिर्फ माँ नहीं, माँ की जमात में शामिल पापा। कैसे निपटे? पापा ने चक्रव्यूह बेध कर बाहर निकलना तो सिखाया ही नहीं।

‘लड़कियाँ तो वैसे भी पराया धन होती हैं। पराए धन का धन रख लें? नरक में भी ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा।’ माँ बन गईं दादी-परदादी।

वह न सुलगी, न तड़पी। बैठी रही चुपचाप। स्तब्ध! जड़! निर्वाक्!

पराया धन... लड़की... लेकिन वह तो अपने आप को बेटा मानती रही है।

‘बेटा लाता तो अच्छा भी लगता।’ माँ ने कहा था। सिर्फ कहा नहीं, उसे चेताया भी था। वह चेती नहीं। इसलिए सजा। कोड़े। उसकी आँखें पनिया गईं। कस कर होंठ भींच लिए - नहीं, काबू। मगर आँसू गाल पर ढुलक ही पड़े। उसे लगा, वह निराश्रित हो गई है। अनाथ। बेटी नहीं। सिर्फ लड़की। कमजोर... अकेली - दुत्कारी लड़की।

‘पराई अमानत है। इतना सिर न चढ़ाओ कि कल को हमीं को भुगतना पड़े।’ माँ कहा करती थीं।

‘पराई लड़की को इतना तंग नहीं करते, बेटे। हम ध्यान नहीं रखेंगे तो और कौन?’ सिद्धार्थ की माँ उन दोनों की नोंक-झोंक में उसका पक्ष ले कर सिद्धार्थ को धमका

देतीं। हक से उपजी धमकी। आत्मीयता के रेशों से कता हक। वह इस आत्मीय हक की परिधि से बाहर है। पराई। और अमानत। यहाँ भी। वहाँ भी।

'ले।' माँ ने उसके हाथों में कुछ थमा दिया है।

बियरर चैक। पंद्रह हजार का। उसने आहत नजरें माँ पर टिका दीं।' बहुत सोच समझ कर अब यही एक रास्ता बचा है।' माँ नजर बचा गईं।

'चोर रास्ते कायर ढूँढते हैं या मुजरिम।' पापा कहा करते थे। बगल के कमरे में कान सटाए बैठे पापा को वह याद दिला देना चाहती है।

कोई कुछ नहीं बोला। कभी-कभी शब्द अपनी ही उपस्थिति मे तड़फड़ा जाते हैं। और मौन ध्वनि की अनुपस्थिति में निष्कृति के लिए फड़फड़ा कर वहीं पड़ा रह जाता है। अपंग। और लाचार।

किर्र। किर्र। उसने मौन को रिहा कर दिया। चार टुकड़ों में फटा चैक उसकी मुट्ठियों में दम तोड़ता रहा। कोई अपनी तरफ से रिश्ते को खत्म करता है तो करे। समाप्ति की उन शर्तों पर स्वीकृति की मुहर लगा कर वह गलत काम में पार्टी क्यों बने?

लड़की**!** हरगिज नहीं।

वह बेटी है। सोलहों आने बेटी।

बेटा बनने का भ्रम पाल कर किसी हीनतर स्थिति की संभावना को क्यों जिलाए रखे**?**

भीतर फैले गड्ढों में एक ताबूत का इजाफा हो गया। खुलेगा यह भी किसी दिन। अतीत और भविष्य को आमने-सामने रख कर। स्वाभाविक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ लाख अंकुश लगाने पर भी रुकती-ठिठकती नहीं।

दस पच्चीस। संग-संग गुजरता वक्त। वह सीधे कॉलेज जाएगी। सब कुछ, रोज की तरह। लेकिन पता नहीं क्यों, पिछले दो बरस में आज पहली बार शिद्दत से महसूस हो रहा है कि अभी तक वह माँ नहीं बनी है। एक बेटी की माँ।